



भारतीय परम्परा में नैतिक निर्देशन के स्रोतों का दार्शनिक विश्लेषण

*¹रामानन्द कुलदीप

*¹एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, सम्राट पृथ्वीराज चौहान राजकीय महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान, भारत।

सारांश

भारतीय नैतिक चिन्तन में धर्म के ज्ञान की समस्या मूलतः एक ज्ञानमीमांसीय समस्या है—धर्म क्या है, यह किस प्रमाण से जाना जाए और विरोध की स्थिति में किस निर्देश को वरीयता दी जाए। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों ने इस प्रश्न का उत्तर चतुर्विध धर्म-मूल के सिद्धान्त द्वारा दिया है—वेद (श्रुति), स्मृति, सदाचार (शिष्टाचार) और आत्मतुष्टि (स्वस्य प्रियमात्मनः)। प्रस्तुत शोध आलेख इन चारों स्रोतों का मूल ग्रन्थों, पूर्वमीमांसा की प्रमाण-मीमांसा तथा मेधातिथि, कुल्लूक और विज्ञानेश्वर जैसे टीकाकारों के आलोक में दार्शनिक विश्लेषण करता है। आलेख का प्रतिपाद्य यह है कि यह चतुर्विध व्यवस्था एक श्रेणीबद्ध किन्तु अन्तःसम्बद्ध ज्ञानमीमांसीय संरचना है, जिसमें नैतिक प्रामाण्य अपौरुषेय शब्द से प्रारम्भ होकर परम्परा और आदर्श आचरण से होता हुआ विवेकशील अन्तःकरण तक पहुँचता है। कान्त के स्वायत्तता-परतन्त्रता विमर्श, अरस्तू के प्रज्ञावान् पुरुष (फ़ोनिमोस) तथा बटलर के अन्तःकरण-सिद्धान्त से तुलना करते हुए आलेख यह स्थापित करता है कि भारतीय परम्परा न तो शुद्ध परतन्त्र नीतिशास्त्र है और न ही निरपेक्ष व्यक्तिनिष्ठ नीतिशास्त्र, बल्कि यह शास्त्र, परम्परा और अन्तःकरण के बीच एक संतुलित संवाद की प्रस्तावना करती है।

मुख्य शब्द: धर्म, धर्ममूल, श्रुति, स्मृति, सदाचार, शिष्टाचार, आत्मतुष्टि, स्वतःप्रामाण्य, पूर्वमीमांसा, धर्मशास्त्र, धर्मसूत्र, नैतिक ज्ञानमीमांसा।

1. प्रस्तावना

प्रत्येक नैतिक परम्परा को दो प्रश्नों का सामना करना पड़ता है—प्रथम, उचित और अनुचित क्या है; द्वितीय, हम यह कैसे जानते हैं कि क्या उचित है। पहला प्रश्न मानकीय नीतिशास्त्र (normative ethics) का है और दूसरा नैतिक ज्ञानमीमांसा (moral epistemology) का। भारतीय परम्परा में दूसरा प्रश्न अत्यन्त प्रारम्भिक काल से ही केन्द्र में रहा है, क्योंकि यहाँ धर्म को एक ऐसा विषय माना गया जो सामान्य इन्द्रियानुभव और लौकिक तर्क की पहुँच से परे है। इसी कारण धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का आरम्भ प्रायः 'धर्म-प्रमाण' अथवा 'धर्म-मूल' के निरूपण से होता है।^[1] मनुस्मृति का यह प्रसिद्ध श्लोक इस विमर्श का आधार-वाक्य माना जाता है:

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥^[2]

इसी को कुछ आगे संक्षिप्त सूत्र-रूप में पुनः कहा गया है—'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥'^[3] याज्ञवल्क्यस्मृति भी लगभग समान शब्दों में श्रुति, स्मृति, सदाचार, आत्मप्रियता और सम्यक्संकल्पजन्य काम को धर्म का मूल घोषित करती है।^[4] प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य इन चार स्रोतों का ऐतिहासिक-पाठपरक निरूपण मात्र नहीं, बल्कि

उनका दार्शनिक विश्लेषण है—अर्थात् यह जाँचना कि प्रत्येक स्रोत का प्रामाण्य किस आधार पर टिका है, उनके बीच सम्बन्ध और पदानुक्रम क्या है, तथा यह संरचना नैतिक ज्ञान के सामान्य सिद्धान्त के रूप में कितनी सुसंगत है।

शोध-पद्धति की दृष्टि से यह अध्ययन विश्लेषणात्मक-पुनर्रचनात्मक है। मूल स्रोतों के रूप में वैदिक संहिताएँ और उपनिषद्, धर्मसूत्र (गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ), स्मृतियाँ (मनु, याज्ञवल्क्य), पूर्वमीमांसासूत्र एवं शाबरभाष्य, महाभारत तथा भगवद्गीता का उपयोग किया गया है; साथ ही मेधातिथि, कुल्लूक और विज्ञानेश्वर की टीकाओं तथा आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के विवेचन को भी ध्यान में रखा गया है।

2. धर्म की अवधारणा और धर्म-ज्ञान की ज्ञानमीमांसीय समस्या

'धर्म' शब्द 'धृ' (धारण करना) धातु से निष्पन्न है। महाभारत में इसकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की गई है कि जो प्रजा को धारण करता है, वही धर्म है—'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।'^[5] वैदिक साहित्य में धर्म की पूर्वपीठिका 'ऋत' की अवधारणा में मिलती है, जो ब्रह्माण्डीय, नैतिक और यज्ञीय व्यवस्था का संयुक्त नाम है—'ऋतं च सत्यं चाभीद्धातपसोऽध्यजायत।'^[6] बृहदारण्यक उपनिषद् धर्म को सत्य से अभिन्न मानते हुए कहता है कि धर्म से श्रेष्ठ कुछ नहीं है और जो धर्म है वही सत्य है।^[7]

दार्शनिक सम्प्रदायों में धर्म की दो परिभाषाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। वैशेषिक सूत्रकार कणाद धर्म को उसके फल से परिभाषित करते हैं—“यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः”;^[8] जबकि जैमिनि उसे उसके प्रमाण से परिभाषित करते हैं—“चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः”, अर्थात् वैदिक विधि-वाक्य (चोदना) द्वारा लक्षित कल्याणकारी अर्थ ही धर्म है।^[9] यह दूसरी परिभाषा अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह धर्म की परिभाषा में ही उसकी ज्ञानमीमांसा को निहित कर देती है। शबरस्वामी अपने भाष्य में तर्क देते हैं कि धर्म भविष्यत् फल से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, और प्रत्यक्षमूलक होने के कारण अनुमान भी उसे ग्रहण नहीं कर सकता; अतः उसका एकमात्र प्रमाण शब्द (वेद) है।^[10]

इसी बिन्दु से भारतीय नैतिक ज्ञानमीमांसा की केन्द्रीय समस्या उत्पन्न होती है। यदि धर्म अतीन्द्रिय है, तो सामान्य व्यक्ति उसे कैसे जाने? यदि केवल वेद प्रमाण है, तो उन असंख्य आचरणों का क्या जिनका वेद में स्पष्ट विधान नहीं है? और यदि लोक-परम्परा भी प्रमाण है, तो उसकी शुद्धता की कसौटी क्या होगी? चतुर्विध धर्ममूल का सिद्धान्त इन्हीं प्रश्नों का व्यवस्थित उत्तर है। इसे एक प्रकार का ‘नैतिक प्रमाणशास्त्र’ कहा जा सकता है जिसमें प्रमाणों का एक क्रम है और प्रत्येक परवर्ती प्रमाण पूर्ववर्ती से वैधता प्राप्त करता है।^[11]

3. धर्म-मूलों का शास्त्रीय विधान: धर्मसूत्रों से स्मृतियों तक

चतुर्विध धर्ममूल का सिद्धान्त एकाएक मनुस्मृति में प्रकट नहीं हुआ; इसका क्रमिक विकास धर्मसूत्रों में देखा जा सकता है। गौतम धर्मसूत्र का आरम्भ ही इस घोषणा से होता है—“वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीलो”^[12] यहाँ वेद के साथ वेदज्ञों की स्मृति और शील (आचरण) को स्थान दिया गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ‘सामयाचारिक’ धर्मों के व्याख्यान से आरम्भ करता है और कहता है कि धर्मज्ञों की सहमति (समय) प्रमाण है और वेद भी।^[13] ध्यातव्य है कि आपस्तम्ब के यहाँ धर्मज्ञों का समय वेद से पहले उल्लिखित है—जो इस बात का संकेत है कि व्यावहारिक नैतिक जीवन में परम्परा की भूमिका कितनी निर्णायक मानी गई।

बौधायन धर्मसूत्र तीन स्रोतों का स्पष्ट क्रम देता है: प्रत्येक वेद में उपदिष्ट धर्म प्रथम है, स्मार्त धर्म द्वितीय है और शिष्टों का आगम (आचरण) तृतीय है।^[14] वसिष्ठ धर्मसूत्र इसी क्रम को सशर्त रूप में प्रस्तुत करता है—धर्म श्रुति और स्मृति द्वारा विहित है; उनके अभाव में शिष्टाचार प्रमाण है।^[15] यहाँ ‘तदलाभे’ पद ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह स्पष्ट करता है कि आचार का प्रामाण्य अवशिष्ट (residual) है—वह वहीं लागू होता है जहाँ उच्चतर प्रमाण मौन हों।

धर्मसूत्रों में ‘आत्मतुष्टि’ का चतुर्थ स्रोत के रूप में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यह तत्त्व मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में जुड़ता है। इस प्रकार ऐतिहासिक क्रम में धर्ममूलों का विस्तार द्वि-स्तरीय (वेद एवं वेदज्ञ-आचार) से त्रि-स्तरीय (वेद, स्मृति, शिष्टाचार) और फिर चतुःस्तरीय (वेद, स्मृति, सदाचार, आत्मतुष्टि) रूप में हुआ।^[16] यह विस्तार केवल संख्यात्मक नहीं, बल्कि गुणात्मक भी है—बाह्य प्रामाण्य से आन्तरिक प्रामाण्य की ओर एक क्रमिक संक्रमण।

4. वेद: नैतिक निर्देशन का परम प्रमाण

4.1. अपौरुषेयत्व और स्वतःप्रामाण्य

धर्मशास्त्रीय परम्परा में वेद को ‘अखिल’ धर्म का मूल कहा गया है और धर्म-जिज्ञासुओं के लिए श्रुति को परम प्रमाण माना गया है—“धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।”^[17] वेद के इस परम प्रामाण्य का दार्शनिक आधार पूर्वमीमांसा में विकसित हुआ। मीमांसकों के अनुसार वेद अपौरुषेय है—अर्थात् उसका कोई मानव या दैवी कर्ता नहीं। चूँकि किसी वाक्य में दोष (भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि) वक्ता के दोष से आते हैं, अतः जिस वाक्य का

कोई वक्ता ही नहीं, उसमें दोष की सम्भावना भी नहीं।^[18]

इसके साथ मीमांसा का ‘स्वतःप्रामाण्यवाद’ जुड़ता है, जिसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साथ ही प्रमाण के रूप में गृहीत होता है, और उसका अप्रामाण्य केवल बाधक ज्ञान या कारण-दोष के ज्ञान से सिद्ध होता है।^[19] नैतिक ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में इसका अर्थ यह है कि वैदिक विधि-वाक्य अपने आप में नैतिक दायित्व का ज्ञान कराते हैं; उन्हें किसी बाह्य तर्क द्वारा पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं। मनुस्मृति इसीलिए कहती है कि श्रुति और स्मृति सभी विषयों में ‘अमीमांस्य’ (तर्क द्वारा अपरीक्षणीय) हैं, और जो हेतुशास्त्र का आश्रय लेकर इन मूलों का अपमान करता है, वह ‘नास्तिक’ और ‘वेदनिन्दक’ है।^[20]

किन्तु इस ‘अमीमांस्यता’ को तर्क-विरोध के रूप में पढ़ना एकांगी होगा। स्वयं मनुस्मृति अन्यत्र कहती है कि जो वेद-शास्त्र से अविरोधी तर्क द्वारा ऋषि-प्रणीत धर्मोपदेश का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं।^[21] अतः यहाँ अस्वीकृत तर्क वह है जो प्रमाण का निषेध करता है; स्वीकृत तर्क वह है जो प्रमाण के अर्थ का निर्धारण करता है। मीमांसा की सम्पूर्ण न्याय-पद्धति (अधिकरण-विचार) इसी दूसरे प्रकार के तर्क का उदाहरण है। दार्शनिक दृष्टि से इसे ‘व्याख्यात्मक तर्कबुद्धि’ (hermeneutic rationality) कहा जा सकता है, जो प्रमाण के भीतर रहकर कार्य करती है।

4.2. वैदिक नैतिकता की अन्तर्वस्तु

यह धारणा भ्रामक है कि वेद केवल कर्मकाण्ड का विधान करते हैं और उनमें नैतिक अन्तर्वस्तु गौण है। ऋग्वेद का दान-सूक्त अदानशीलता की निन्दा और दानी की प्रशंसा करता है;^[22] वरुण-सूक्तों में ऋत-भंग को पाप और वरुण के पाशों से बन्धन के रूप में देखा गया है।^[23] तैत्तिरीय उपनिषद् का दीक्षान्त उपदेश वैदिक नैतिकता का संक्षिप्त संहिताकरण है—“सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।... मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।”^[24] बृहदारण्यक का प्रजापति-उपदेश ‘द-द-द’—‘दाम्यत, दत्त, दयध्वम्—आत्मसंयम, दान और करुणा को एक ही दिव्य वाणी की तीन व्याख्याओं के रूप में प्रस्तुत करता है।^[25]

इस प्रकार वेद नैतिक निर्देशन के परम स्रोत के रूप में दो स्तरों पर कार्य करता है—विधि-निषेध के स्तर पर वह विशिष्ट कर्तव्यों का विधान करता है, और मूल्य के स्तर पर वह सत्य, ऋत, दान, दम और दया जैसे सार्वभौम नैतिक आदर्शों की स्थापना करता है। परवर्ती धर्मशास्त्रों के ‘साधारण धर्म’—जैसे मनु के दशविध धर्मलक्षण (धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध)—इसी वैदिक मूल्य-भूमि का विस्तार हैं।^[26]

5. स्मृति: वेदमूलकता और अनुमित श्रुति

धर्म का द्वितीय स्रोत स्मृति है। मनु के अनुसार ‘श्रुति’ से वेद और ‘स्मृति’ से धर्मशास्त्र अभिप्रेत है।^[27] गौतम का पद ‘तद्विदां च स्मृतिशीले’ इस बात पर बल देता है कि स्मृति का प्रामाण्य उसके रचयिताओं के वेदज्ञ होने पर आधारित है। यहाँ ‘स्मृति’ शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ—‘स्मरण’—दार्शनिक रूप से अर्थपूर्ण है: स्मृति वह है जो वेद के अर्थ का स्मरण करती है, न कि स्वतन्त्र रूप से कोई नवीन धर्म उत्पन्न करती है।

स्मृति के प्रामाण्य पर सबसे सूक्ष्म विचार पूर्वमीमांसा के स्मृत्यधिकरण में मिलता है। पूर्वपक्ष यह है कि धर्म शब्दमूलक है, अतः जो अशब्द (वेद-बाह्य) है वह अनपेक्ष (अप्रमाण) होना चाहिए। सिद्धान्त यह है कि स्मृति-कर्ताओं और वेद-कर्ताओं (अनुष्ठाताओं) की समानता के कारण स्मृति वेद-अनुमापक प्रमाण है; किन्तु विरोध की स्थिति में स्मृति अनपेक्ष है, क्योंकि जहाँ प्रत्यक्ष श्रुति विद्यमान है वहाँ अनुमान का अवकाश नहीं।^[28]

कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में इस सिद्धान्त का विस्तार करते हुए यह स्थापित किया कि स्मृतियाँ उन वेद-शाखाओं पर आधारित हैं जो या तो लुप्त हो गई हैं या विप्रकीर्ण हैं; इस प्रकार प्रत्येक प्रामाणिक स्मृति-वाक्य के पीछे एक 'अनुमित श्रुति' है।^[29] दार्शनिक दृष्टि से यह एक उल्लेखनीय ज्ञानमीमांसीय युक्ति है: स्मृति का प्रामाण्य 'व्युत्पन्न' (derived) है, किन्तु 'काल्पनिक' नहीं। स्मृति किसी साक्षी के उस कथन के समान है जो किसी मूल दस्तावेज़ का स्मरण करता है—मूल दस्तावेज़ उपलब्ध न हो, तब भी साक्षी की विश्वसनीयता के आधार पर उसका कथन स्वीकार्य है; किन्तु यदि मूल दस्तावेज़ उपलब्ध हो और साक्षी के कथन से भिन्न हो, तो मूल ही मान्य होगा। शबरस्वामी ने विरोध का एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया है—वैदिक विधान है कि उद्गाता औदुम्बरी (गूलर की शाखा) को छूकर साम-गान करे, जबकि एक स्मृति-वाक्य सम्पूर्ण औदुम्बरी को वस्त्र से वेष्टित करने को कहता है; ऐसे में स्मृति-वाक्य बाधित माना जाएगा।^[30] इसके अतिरिक्त शबर ने उन स्मृति-विधानों को भी अप्रमाण माना है जिनके पीछे लोभ या स्वार्थ जैसे दृष्ट हेतु स्पष्ट हों—इसे 'हेतुदर्शनाधिकरण' के रूप में जाना जाता है।^[31] यह सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह स्मृति-वाक्यों की एक प्रकार की 'आलोचनात्मक परीक्षा' की अनुमति देता है: जिस नियम के पीछे निहित स्वार्थ स्पष्ट दिखाई दे, उसे धर्म का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

स्मृति की बहुलता और परस्पर विरोध की समस्या भी धर्मशास्त्रकारों के सामने थी। मनु श्रुति-द्वैध की स्थिति में दोनों विकल्पों को धर्म मानते हैं।^[32] परवर्ती निबन्धकारों ने स्मृतियों के बीच विरोध को देश, काल और अधिकारी-भेद द्वारा व्यवस्थित करने का प्रयास किया। यह प्रवृत्ति इस बात की सूचक है कि स्मृति को एक जड़ संहिता के रूप में नहीं, बल्कि व्याख्येय और प्रसंग-सापेक्ष परम्परा के रूप में देखा गया।^[33]

6. सदाचार: शिष्ट-आचरण का प्रामाण्य

तृतीय स्रोत सदाचार है, जिसे धर्मसूत्रों में प्रायः 'शिष्टाचार' या 'शिष्टागम' कहा गया है। मनुस्मृति सदाचार की परिभाषा भौगोलिक-ऐतिहासिक रूप में करती है—सरस्वती और दृष्टद्वती के बीच स्थित ब्रह्मावर्त देश में वर्णों और अन्तरालवर्ती जनों का परम्परा-क्रम से चला आ रहा आचार सदाचार कहलाता है।^[34] किन्तु दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण वह परिभाषा है जो सदाचार को किसी भूभाग से नहीं, बल्कि आचरणकर्ता के गुणों से जोड़ती है।

6.1. शिष्ट कौन?

बौधायन धर्मसूत्र शिष्ट का अत्यन्त सटीक नैतिक चित्र प्रस्तुत करता है: शिष्ट वे हैं जो मत्सर-रहित, अहंकार-रहित, कुम्भीधान्य (केवल आवश्यकतानुसार संचय करने वाले), अलोलुप तथा दम्भ, दर्प, लोभ, मोह और क्रोध से रहित हैं; जिन्होंने धर्मपूर्वक वेद और उसके परिबृंहण (इतिहास-पुराण आदि) को प्राप्त किया है और जो श्रुति को प्रत्यक्ष हेतु मानते हुए उससे अनुमान करना जानते हैं।^[35] वसिष्ठ इसे और संक्षेप में कहते हैं—“शिष्टः पुनरकामात्मा”, अर्थात् शिष्ट वह है जिसकी आत्मा कामना से प्रेरित नहीं।^[36] मनु भी धर्म-प्रकरण के प्रारम्भ में ही धर्म को उन विद्वानों और सज्जनों द्वारा सेवित बताते हैं जो राग-द्वेष से रहित हैं।^[37]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि शिष्टाचार का प्रामाण्य बहुमत या लोक-प्रचलन पर आधारित नहीं है। उसका आधार दो शर्तें हैं—ज्ञानात्मक (वेद-ज्ञान और उससे अनुमान करने की क्षमता) तथा नैतिक-मनोवैज्ञानिक (राग-द्वेष, लोभ और अहंकार से मुक्ति)। इस प्रकार शिष्ट एक 'आदर्श नैतिक साक्षी' (ideal moral observer) है, जिसका आचरण इसलिए प्रमाण है कि उसकी चेतना विकृत करने वाले कारकों से मुक्त है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी सिद्धान्त को

व्यावहारिक निर्देश के रूप में प्रस्तुत करता है: यदि कर्म या आचरण के विषय में संशय उत्पन्न हो, तो वहाँ विचारशील, कर्तव्यनिष्ठ, स्वतन्त्र, अकठोर और धर्मकाम ब्राह्मण जैसा आचरण करें, वैसा ही आचरण करना चाहिए।^[38]

महाभारत के यक्षप्रश्न-प्रसंग में युधिष्ठिर इसी स्थिति का दार्शनिक निदान करते हैं: तर्क अप्रतिष्ठित है, श्रुतियाँ विभिन्न हैं, कोई एक ऋषि ऐसा नहीं जिसका मत सर्वमान्य प्रमाण हो; धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है, अतः महाजन जिस मार्ग से गए हैं, वही पथ है।^[39] भगवद्गीता भी कहती है कि श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, अन्य जन वैसा ही करते हैं; वह जो प्रमाण स्थापित करता है, लोक उसी का अनुसरण करता है।^[40] यहाँ 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग ध्यातव्य है—श्रेष्ठ का आचरण स्वयं एक ज्ञानमीमांसीय प्रमाण बन जाता है। आपस्तम्ब इस विचार को और आगे ले जाते हैं। उनके अनुसार धर्म और अधर्म स्वयं यह कहते हुए नहीं घूमते कि 'हम यहाँ हैं'; न देवता, न गन्धर्व, न पितर यह बताते हैं कि यह धर्म है और यह अधर्म; अपितु आर्य जिस कर्म की प्रशंसा करते हैं वह धर्म है और जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म।^[41] यह कथन नैतिक ज्ञान के एक 'सामुदायिक-मूल्यांकनपरक' सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। आपस्तम्ब यह भी कहते हैं कि धर्म के शेष अंशों को स्त्रियों और सभी वर्णों से जानना चाहिए^[42]—जो इस बात का प्रमाण है कि सदाचार का क्षेत्र किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं माना गया। गौतम भी देश, जाति और कुल के धर्मों को, यदि वे आम्राय (वेद) से विरुद्ध न हों, प्रमाण मानते हैं।^[43]

6.2. आचार के प्रामाण्य की सीमाएँ

सदाचार के प्रामाण्य पर दो सीमाएँ स्पष्ट रूप से आरोपित की गई हैं। प्रथम, उसे श्रुति-स्मृति से अविरुद्ध होना चाहिए (गौतम का 'आम्रायैरविरुद्धाः' और वसिष्ठ का 'तदलाभे')। द्वितीय, आचरणकर्ता शिष्ट होना चाहिए—अर्थात् आचार का स्रोत लोभ, स्वार्थ या मोह न हो। पूर्वमीमांसा के आचाराधिकरण (होलाकाधिकरण) में विचार किया गया है कि शिष्टों के उन आचारों का, जिनके लिए कोई प्रत्यक्ष वैदिक वाक्य नहीं मिलता, प्रामाण्य किस आधार पर है; सिद्धान्त यह है कि ऐसे आचार भी किसी अनुमित श्रुति पर आधारित माने जाएँगे, बशर्ते उनके पीछे कोई दृष्ट (लौकिक) प्रयोजन स्पष्ट न हो।^[44] दार्शनिक दृष्टि से यह विवेचन आचार-प्रामाण्य की एक गम्भीर समस्या को उजागर करता है: यदि शिष्ट का आचरण प्रमाण है और शिष्ट वह है जो धर्म का आचरण करता है, तो क्या यह चक्रक दोष नहीं? धर्मसूत्रकार इस चक्र को दो प्रकार से तोड़ते हैं। एक, शिष्टत्व की कसौटी में वेद-ज्ञान को सम्मिलित करके, जिससे आचार अन्ततः श्रुति से जुड़ जाता है; दो, शिष्टत्व को ऐसे चारित्रिक गुणों (अलोभ, अदम्भ, अक्रोध) से परिभाषित करके जो किसी विशिष्ट धर्म-नियम की पूर्वमान्यता के बिना भी पहचाने जा सकते हैं। दूसरी युक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि यह गुण-केन्द्रित नीतिशास्त्र (virtue ethics) के निकट आती है।

7. आत्मतुष्टि: अन्तःकरण का साक्ष्य

चतुर्थ और दार्शनिक दृष्टि से सर्वाधिक विवादास्पद स्रोत आत्मतुष्टि है। मनु इसे 'आत्मनस्तुष्टिः' (2.6) और 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' (2.12) कहते हैं; याज्ञवल्क्य इसके साथ 'सम्यक्संकल्पजः कामः' जोड़ते हैं। मनु का एक अन्य श्लोक इसी तत्त्व को व्यावहारिक कसौटी के रूप में प्रस्तुत करता है—जिस कर्म को करते हुए अन्तरात्मा को परितोष हो, उसे प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए और उसके विपरीत को त्याग देना चाहिए।^[45] उल्लेखनीय है कि मनु धर्म-प्रकरण का आरम्भ ही उस धर्म से करते हैं जो 'हृदयेनाभ्यनुज्ञातः'—हृदय द्वारा अनुमोदित—है (2.1)। इस प्रकार हृदय की स्वीकृति आत्मतुष्टि के रूप में चतुर्थ स्रोत बनने से पहले ही धर्म की परिभाषा में अनुस्यूत है।

आत्मतुष्टि के प्रामाण्य की सीमा को लेकर टीकाकारों में स्पष्ट सतर्कता है। मेधातिथि के अनुसार आत्मतुष्टि स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है; वह केवल उन विषयों में निर्णायक है जहाँ शास्त्र ने विकल्प की अनुमति दी हो, और उसमें भी केवल वेदज्ञ, शुद्धचित्त पुरुष की तुष्टि ही मान्य है।^[46] कुल्लूकभट्ट भी इसे वैकल्पिक विषयों तक सीमित करते हैं।^[47] विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्यस्मृति 1.7 की मिताक्षरा-व्याख्या में आत्मप्रियता को इसी प्रकार विकल्प-स्थलों पर निर्णायक माना है।^[48]

इस टीका-परम्परा से एक महत्वपूर्ण दार्शनिक निष्कर्ष निकलता है: आत्मतुष्टि 'आत्मा की प्रसन्नता' अथवा मनोवैज्ञानिक सुख नहीं है। वह अनुशासित, शास्त्र-संस्कारित और राग-द्वेष-मुक्त अन्तःकरण का साक्ष्य है। कालिदास ने इसी भाव को अभिव्यक्ति दी है कि सन्देह के विषयों में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं।^[49] यहाँ 'सताम' पद निर्णायक है—प्रमाण किसी का भी अन्तःकरण नहीं, बल्कि सत्पुरुष का अन्तःकरण है। इस अर्थ में आत्मतुष्टि शिष्टत्व का ही आन्तरिक पक्ष है: जो बाहर से शिष्टाचार के रूप में दिखाई देता है, वही भीतर से आत्मतुष्टि के रूप में अनुभूत होता है। आत्मतुष्टि का एक अन्य आयाम 'आत्मौपम्य' का सिद्धान्त है। महाभारत के अनुसार जो अपने लिए प्रतिकूल है, उसे दूसरे के प्रति नहीं करना चाहिए—यही संक्षेप में धर्म है।^[50] यहाँ 'स्वस्य प्रियम् आत्मनः' एक अहंकेन्द्रित कसौटी न रहकर सार्वभौमीकरण की कसौटी बन जाता है: जो मुझे प्रिय है, उसी के आधार पर मैं दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य को पहचानता हूँ। भगवद्गीता में कृष्ण का अन्तिम कथन—“विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु”^[51]—इसी विवेक-आधारित आत्मनिर्णय की ओर संकेत करता है, यद्यपि वह भी पूर्ण विमर्श (शास्त्र-ज्ञान) के पश्चात् ही है।

8. चतुर्विध स्रोतों का पदानुक्रम और विरोध-परिहार

धर्मशास्त्रीय परम्परा में इन चारों स्रोतों के बीच स्पष्ट पदानुक्रम स्वीकृत है। सामान्य नियम यह है कि पूर्व-पूर्व प्रमाण उत्तर-उत्तर से बलवान् है: श्रुति स्मृति से, स्मृति सदाचार से और सदाचार आत्मतुष्टि से। जैमिनि का 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्' (1.3.3), वसिष्ठ का 'तदलाभे' और गौतम का 'आम्नायैरविरुद्धाः—ये सभी इसी पदानुक्रम के विभिन्न सूत्रीकरण हैं। गीता भी कार्य-अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र को प्रमाण मानने का निर्देश देती है।^[52]

इस पदानुक्रम को दार्शनिक रूप से तीन प्रकार से समझा जा सकता है। प्रथम, यह ज्ञानमीमांसीय दूरी का क्रम है: वेद धर्म का साक्षात् ज्ञान है, स्मृति उसका स्मरण है, आचार स्मृति का व्यवहार में रूपान्तरण है, और आत्मतुष्टि उस व्यवहार का आन्तरिक अनुमोदन है। मूल से जितनी दूरी, त्रुटि की उतनी सम्भावना। द्वितीय, यह विषय-क्षेत्र के विस्तार का विपरीत क्रम है: वेद सीमित संख्या में विधान करता है, जबकि आत्मतुष्टि जीवन के असंख्य सूक्ष्म निर्णयों में मार्गदर्शन करती है। अतः जहाँ प्रामाण्य घटता है, वहाँ प्रयोज्यता बढ़ती है। तृतीय, यह बाह्य से आन्तरिक की ओर एक संक्रमण है: वेद और स्मृति ग्रन्थ-रूप बाह्य प्रमाण हैं, सदाचार अन्तःव्यक्तिक (intersubjective) प्रमाण है, और आत्मतुष्टि आत्मनिष्ठ (subjective) किन्तु अनुशासित प्रमाण है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह पदानुक्रम 'एकदिशीय' नहीं है। विरोध की स्थिति में उच्चतर प्रमाण निम्नतर को बाधित करता है, किन्तु निम्नतर प्रमाण उच्चतर की व्याख्या को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, कोई स्मृति-वाक्य किस अर्थ में लिया जाए, इसका निर्धारण प्रायः शिष्टों के आचरण से होता है। इसी प्रकार मनु यह भी कहते हैं कि जो धर्म असुखोदक (परिणाम में दुःखद) हो या लोक में निन्दित हो, उसे भी त्याग देना चाहिए।^[53] यह श्लोक लोक-मत और परिणाम को धर्म-निर्णय में एक 'सुधारक' (corrective) भूमिका प्रदान करता है। जटिल प्रश्नों के लिए मनु ने वेदज्ञों की 'परिषद्' का

विधान भी किया, जो व्यक्तिगत निर्णय को सामूहिक विमर्श से सन्तुलित करने की संस्थागत व्यवस्था है।^[54]

इस प्रकार चतुर्विध धर्ममूल एक रेखीय सोपान से अधिक एक 'परस्पर-संशोधक तन्त्र' (mutually corrective system) प्रतीत होता है, जिसमें शास्त्र मूल्य और दिशा देता है, परम्परा उसे मूर्त बनाती है, आदर्श पुरुष उसे जीवन्त बनाते हैं और विवेकशील अन्तःकरण उसे व्यक्तिगत परिस्थिति में लागू करता है। डोनाल्ड डेविस ने इसी कारण धर्मशास्त्र को एक 'ग्रन्थ-आश्रित किन्तु व्यवहार-केन्द्रित' परम्परा के रूप में व्याख्यायित किया है, जिसमें आचार की भूमिका प्रायः सिद्धान्त से अधिक केन्द्रीय है।^[55]

9. तुलनात्मक दार्शनिक विमर्श

भारतीय धर्म-मूल सिद्धान्त का पाश्चात्य नैतिक दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन उसकी विशिष्टता को और स्पष्ट करता है। काण्ट ने नैतिकता की प्रामाणिकता को इच्छा की 'स्वायत्तता' (autonomy) में स्थापित किया और किसी भी बाह्य प्राधिकार—ईश्वर, परम्परा या सुख—से प्राप्त नैतिक नियम को 'परतन्त्रता' (heteronomy) कहकर अस्वीकार किया।^[56] प्रथम दृष्टि में वेद-प्रामाण्य पर आधारित धर्मशास्त्रीय नीति परतन्त्र प्रतीत होती है। किन्तु यह निष्कर्ष दो कारणों से अपूर्ण है। एक, मीमांसा के अनुसार वेद किसी 'इच्छा' (ईश्वर या ऋषि की) का आदेश नहीं है—वह अपौरुषेय है; अतः यहाँ किसी आदेशदाता का प्रश्न ही नहीं उठता, जो काण्ट की परतन्त्रता-आलोचना का मुख्य लक्ष्य था। दो, आत्मतुष्टि का स्रोत स्वयं परम्परा के भीतर अन्तःकरण की स्वायत्तता को स्थान देता है। अरस्तू के नीतिशास्त्र में सद्गुण वह मध्यम-मार्ग है जिसका निर्धारण 'प्रज्ञावान् पुरुष' (phronimos) करता है।^[57] भारतीय 'शिष्ट' की अवधारणा इसके अत्यन्त निकट है—दोनों परम्पराओं में नैतिक मानक का निर्धारण किसी अमूर्त सूत्र से नहीं, बल्कि आदर्श चरित्र वाले व्यक्ति के व्यवहार से होता है। अन्तर यह है कि अरस्तू का प्रज्ञावान् पुरुष अपने अनुभवजन्य विवेक पर निर्भर है, जबकि धर्मसूत्रों का शिष्ट वेद-ज्ञान और उससे अनुमान करने की क्षमता ('तदनुमानज्ञाः') से भी युक्त है।

जोसेफ़ बटलर ने अन्तःकरण (conscience) को मनुष्य के भीतर एक ऐसी सर्वोच्च चिन्तनशील शक्ति माना जो अन्य सभी प्रवृत्तियों पर अधिकार रखती है।^[58] भारतीय आत्मतुष्टि और बटलर के अन्तःकरण में साम्य है, किन्तु एक मौलिक भिन्नता भी है: बटलर के यहाँ अन्तःकरण सर्वोच्च है, जबकि धर्मशास्त्र में वह क्रम में अन्तिम है और शास्त्र तथा शिष्टाचार द्वारा संस्कारित एवं सीमित है। हेगेल की 'नैतिक जीवन' (Sittlichkeit) की अवधारणा, जिसमें व्यक्तिगत नैतिकता (Moralität) सामाजिक संस्थाओं और परम्पराओं में मूर्त होकर ही पूर्णता प्राप्त करती है,^[59] सदाचार के भारतीय सिद्धान्त से एक रोचक संवाद की सम्भावना प्रस्तुत करती है।

विल्हेल्म हाल्बफ़ास ने ठीक ही रेखांकित किया है कि पारम्परिक भारतीय आत्म-बोध में धर्म को किसी सार्वभौम नैतिक नियम के रूप में नहीं, बल्कि वेद-आधारित, अधिकारी-सापेक्ष व्यवस्था के रूप में समझा गया, और आधुनिक काल में इसे 'सार्वभौम नैतिकता' के रूप में पुनर्व्याख्यायित करने की प्रवृत्ति पाश्चात्य सम्पर्क से प्रभावित है।^[60] यह चेतावनी तुलनात्मक अध्ययन में अनैतिहासिक समीकरणों से बचने के लिए आवश्यक है।

10. आलोचनात्मक मूल्यांकन एवं समकालीन प्रासंगिकता

चतुर्विध धर्ममूल सिद्धान्त की कुछ आलोचनाएँ भी विचारणीय हैं। प्रथम, वेद को अमीमांस्य मानने और हेतुशास्त्राश्रयी आलोचक को 'नास्तिक' घोषित करने की प्रवृत्ति नैतिक जिज्ञासा को सीमित कर सकती है। द्वितीय, सदाचार की भौगोलिक परिभाषा (ब्रह्मावर्त) और शिष्टत्व को वेदाध्ययन से जोड़ना व्यावहारिक रूप में नैतिक

प्राधिकार को एक विशिष्ट वर्ग तक सीमित कर देता है। प्रो. दयाकृष्ण ने भारतीय चिन्तन की ऐसी रूढ़ धारणाओं की पुनर्परीक्षा का आग्रह करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि धर्मशास्त्रीय परम्परा व्यक्ति, समाज और राज्य के सम्बन्धों पर स्वतन्त्र दार्शनिक विमर्श के रूप में कितनी विकसित हुई।^[61] बिमल कृष्ण मतिलाल ने महाभारत के नैतिक द्वन्द्वों के विश्लेषण द्वारा दिखाया कि भारतीय परम्परा स्वयं नैतिक नियमों की अपर्याप्तता और नैतिक संशय से भली-भाँति परिचित थी।^[62]

किन्तु इन सीमाओं के बावजूद यह सिद्धान्त कई दृष्टियों से आज भी प्रासंगिक है। प्रथम, यह नैतिक ज्ञान के बहु-स्रोतीय (pluralistic) स्वरूप को स्वीकार करता है—न केवल ग्रन्थ, न केवल परम्परा, न केवल व्यक्तिगत अन्तःकरण, बल्कि इन सबका संतुलित समन्वय। द्वितीय, शिष्टत्व की गुण-आधारित परिभाषा (अलोभ, अदम्भ, अक्रोध, अमत्सर) एक ऐसी कसौटी प्रस्तुत करती है जो किसी भी युग में नैतिक नेतृत्व के मूल्यांकन के लिए उपयोगी है। तृतीय, आत्मतुष्टि को अनुशासित अन्तःकरण के रूप में समझने से यह सिद्धान्त समकालीन व्यक्तिवादी सापेक्षवाद—‘जो मुझे ठीक लगे वही ठीक है’—का भी एक संतुलित विकल्प प्रस्तुत करता है। राजेन्द्र प्रसाद ने भारतीय नैतिक दर्शन के अपने विश्लेषणात्मक अध्ययन में इस बात पर बल दिया है कि शास्त्रीय भारतीय नैतिक अवधारणाओं को उनके तार्किक ढाँचे के साथ पुनर्परीक्षित करके ही उनकी समकालीन उपयोगिता निर्धारित की जा सकती है।^[63]

11. निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय परम्परा में नैतिक निर्देशन के चार स्रोत—वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि—एक सुविचारित नैतिक ज्ञानमीमांसा का निर्माण करते हैं। वेद अपौरुषेयत्व और स्वतःप्रामाण्य के आधार पर परम प्रमाण है; स्मृति अनुमित श्रुति के आधार पर व्युत्पन्न प्रमाण है; सदाचार शिष्टों के ज्ञान और चरित्र के आधार पर अन्तःव्यक्तिक प्रमाण है; और आत्मतुष्टि शास्त्र-संस्कारित, राग-द्वेष-मुक्त अन्तःकरण के आधार पर आत्मनिष्ठ प्रमाण है। इनके बीच का पदानुक्रम—पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर से बलवत्त्व—विरोध-परिहार का स्पष्ट नियम देता है, किन्तु साथ ही निम्नतर स्रोत उच्चतर की व्याख्या और प्रयोग में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

दार्शनिक रूप से यह व्यवस्था न तो विशुद्ध परतन्त्र नीतिशास्त्र है, जिसमें व्यक्ति केवल आदेश का पालनकर्ता हो, और न ही विशुद्ध आत्मनिष्ठ नीतिशास्त्र, जिसमें व्यक्तिगत भावना ही अन्तिम कसौटी हो। यह बाह्य शास्त्र और आन्तरिक विवेक के बीच, परम्परा और व्यक्तिगत निर्णय के बीच, एक संरचित संवाद है। मनु का यह कथन कि धर्म वह है जो विद्वानों और राग-द्वेष-रहित सज्जनों द्वारा सेवित हो तथा हृदय द्वारा अनुमोदित हो (2.1), सम्पूर्ण सिद्धान्त का सार प्रस्तुत करता है—धर्म का प्रामाण्य शास्त्र में, उसकी प्रत्यक्षता सत्पुरुषों के आचरण में और उसकी अन्तिम स्वीकृति शुद्ध हृदय में है। इसी त्रिविध संगति में भारतीय नैतिक निर्देशन की दार्शनिक विशिष्टता निहित है।

Footnotes

1. पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड 1 (हिन्दी अनु. अर्जुन चौबे काश्यप), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, ‘धर्म के उपादान’ विषयक प्रारम्भिक अध्याय; मूल अंग्रेज़ी: P. V. Kane, History of Dharmaśāstra, Vol. I, Pt. I, ch. 1.
2. मनुस्मृति 2.6; द्रष्टव्य—मनुस्मृति (कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली सहित), सं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।
3. मनुस्मृति 2.12।

4. याज्ञवल्क्यस्मृति 1.7: “श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥” द्रष्टव्य—याज्ञवल्क्यस्मृति (विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा सहित), सं. उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
5. महाभारत, कर्णपर्व 69.58 (गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण); समान भाव शान्तिपर्व 109 में भी।
6. ऋग्वेद 10.190.1।
7. बृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.14: “...धर्मात्परं नास्ति... यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्।” द्रष्टव्य—ईशादि दशोपनिषद् (शांकरभाष्य सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।
8. वैशेषिकसूत्र 1.1.2।
9. पूर्वमीमांसासूत्र 1.1.2; द्रष्टव्य—मीमांसादर्शनम् (शाबरभाष्य सहित), आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पुणे।
10. शाबरभाष्य, पूर्वमीमांसासूत्र 1.1.2 एवं 1.1.4 (प्रत्यक्षसूत्र) पर।
11. द्रष्टव्य—Albrecht Wezler, “Dharma in the Veda and the Dharmaśāstras”, Journal of Indian Philosophy, Vol. 32, 2004, pp. 629–654।
12. गौतमधर्मसूत्र 1.1–2; द्रष्टव्य—Patrick Olivelle (ed. & tr.), Dharmaśāstras: The Law Codes of Āpastamba, Gautama, Baudhāyana and Vasiṣṭha, Motilal Banarsidass, Delhi, 2000।
13. आपस्तम्बधर्मसूत्र 1.1.1.1–3: “अथातः सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः। धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्। वेदाश्च।”
14. बौधायनधर्मसूत्र 1.1.1.1–4: “उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्... स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः।”
15. वसिष्ठधर्मसूत्र 1.4–5: “श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।”
16. Patrick Olivelle, Manu’s Code of Law: A Critical Edition and Translation of the Mānava-Dharmaśāstra, Oxford University Press, New York, 2005, मनु 2.6–2.12 पर टिप्पणियाँ।
17. मनुस्मृति 2.13।
18. आपस्तम्बधर्मसूत्र 1.1.1.1–3: “अथातः सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः। धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्। वेदाश्च।”
19. बौधायनधर्मसूत्र 1.1.1.1–4: “उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्... स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः।”
20. वसिष्ठधर्मसूत्र 1.4–5: “श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।”
21. Patrick Olivelle, Manu’s Code of Law: A Critical Edition and Translation of the Mānava-Dharmaśāstra, Oxford University Press, New York, 2005, मनु 2.6–2.12 पर टिप्पणियाँ।
22. मनुस्मृति 2.13।
23. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.11.1–2।
24. बृहदारण्यक उपनिषद् 5.2.1–3।
25. मनुस्मृति 6.92: “धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥”
26. मनुस्मृति 2.10 (पूर्वार्ध)।
27. पूर्वमीमांसासूत्र 1.3.1–3: “धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्। अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्। विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्॥” शाबरभाष्य सहित।
28. कुमारिल भट्ट, तन्त्रवार्तिक, पूर्वमीमांसासूत्र 1.3.1–2 पर; द्रष्टव्य—Tantravārttika, tr. Gaṅgānātha Jhā, Bibliotheca Indica, Asiatic Society, Calcutta, 1903–1924।
29. शाबरभाष्य, पूर्वमीमांसासूत्र 1.3.3 पर।
30. पूर्वमीमांसासूत्र 1.3.4 (“हेतुदर्शनाच्च”) एवं उस पर शाबरभाष्य।

31. मनुस्मृति 2.14: “श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥”
32. Robert Lingat, The Classical Law of India, tr. J. Duncan M. Derrett, University of California Press, Berkeley, 1973, Part I, ch. 1 (“Dharma and its Sources”)।
33. मनुस्मृति 2.17-18: “...तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥”
34. बौधायनधर्मसूत्र 1.1.1.5-6: “शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः॥ धर्मेणाधिगतो येषां वेदः सपरिवृंहणः। शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥”
35. वसिष्ठधर्मसूत्र 1.6।
36. मनुस्मृति 2.1: “विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥”
37. तैत्तिरीय उपनिषद् 1.11.4: “अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः।”
38. महाभारत, वनपर्व 313.117 (गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण): “तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजना येन गतः स पन्थाः॥”
39. श्रीमद्भगवद्गीता 3.21: “यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥” (गीताप्रेस, गोरखपुर)।
40. आपस्तम्बधर्मसूत्र 1.7.20.6-7: “न धर्माधर्मौ चरत आर्वं स्व इति। न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति। यत्कार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यद्गर्हन्ते सोऽधर्मः॥”
41. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2.11.29.15: “स्त्रीभ्यः सर्ववर्णभ्यश्च धर्मशेषान् प्रतीयात्।”
42. गौतमधर्मसूत्र 11.20: “देशजातिकुलधर्माश्चाप्राप्यैरविरुद्धाः प्रमाणम्।”
43. पूर्वमीमांसासूत्र, अध्याय 1, पाद 3 (आचार विषयक अधिकरण) एवं उस पर शाबरभाष्य तथा तन्त्रवार्तिक; द्रष्टव्य—काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनु.), खण्ड 5, पूर्वमीमांसा विषयक अध्याय।
44. मनुस्मृति 4.161: “यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः। तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥”
45. मेधातिथि, मनुभाष्य, मनुस्मृति 2.6 पर; द्रष्टव्य—Manusmṛti with the Manubhāṣya of Medhātithi, ed. Gaṅgānātha Jhā, Asiatic Society, Calcutta, 1932-1939; अंग्रेज़ी अनु. Gaṅgānātha Jhā, Motilal Banarsidass (पुनर्मुद्रण)।
46. कुल्लूकभट्ट, मन्वर्थमुक्तावली, मनुस्मृति 2.6 एवं 2.12 पर।
47. विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति 1.7 पर।
48. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क, श्लोक 22 (संस्करण-भेद से 1.20): “सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।”
49. महाभारत, अनुशासनपर्व 113.8 (गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण): “न तत्परस्य सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः। एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यत्प्रवर्तते॥”
50. श्रीमद्भगवद्गीता 18.63।
51. श्रीमद्भगवद्गीता 16.24: “तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥”
52. मनुस्मृति 4.176: “परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदरकं लोकविकृष्टमेव च॥”
53. मनुस्मृति 12.108-113 (दशावरा एवं त्रयवरा परिषद् विषयक

श्लोक)।

54. Donald R. Davis Jr., The Spirit of Hindu Law, Cambridge University Press, Cambridge, 2010, ch. 1-2।
55. Immanuel Kant, Groundwork of the Metaphysics of Morals, tr. Mary Gregor, Cambridge University Press, 1997, Section II (Akademie edition 4:440-4:441)।
56. Aristotle, Nicomachean Ethics, II.6, 1106b36-1107a2; tr. W. D. Ross, rev. J. O. Urmson, in The Complete Works of Aristotle, ed. J. Barnes, Princeton University Press, 1984।
57. Joseph Butler, Fifteen Sermons Preached at the Rolls Chapel (1726), Sermon II, “Upon Human Nature”।
58. G. W. F. Hegel, Elements of the Philosophy of Right, ed. Allen W. Wood, tr. H. B. Nisbet, Cambridge University Press, 1991, §§142-157।
59. Wilhelm Halbfass, India and Europe: An Essay in Understanding, State University of New York Press, Albany, 1988, ch. 17 (“Dharma in the Self-Understanding of Traditional Hinduism”)।
60. Daya Krishna, The Problematic and Conceptual Structure of Classical Indian Thought about Man, Society and Polity, Oxford University Press, Delhi, 1996; तुलनीय—Daya Krishna, Indian Philosophy: A Counter Perspective, Oxford University Press, Delhi, 1991।
61. Bimal Krishna Matilal, Ethics and Epics: The Collected Essays of Bimal Krishna Matilal, ed. Jonardon Ganeri, Oxford University Press, New Delhi, 2002, विशेषतः “Moral Dilemmas: Insights from Indian Epics”।
62. Rajendra Prasad, A Conceptual-Analytic Study of Classical Indian Philosophy of Morals (History of Science, Philosophy and Culture in Indian Civilization, Vol. XII, Pt. 1), Centre for Studies in Civilizations / Concept Publishing, New Delhi, 2008।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सोनटक्के एन. एस., एवं अन्य, सं. ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्य सहित). पुणे: वैदिक संशोधन मण्डल; 1933-1951.
2. ईशादि दशोपनिषद् (शांकरभाष्य सहित). गोरखपुर: गीताप्रेस.
3. शास्त्री हरगोविन्द, सं. मनुस्मृति (कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली सहित). वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफ़िस.
4. Jhā G, editor. Manusmṛti with the Manubhāṣya of Medhātithi. 2 vols. Calcutta: Asiatic Society of Bengal; 1932-1939.
5. पाण्डेय उमेश चन्द्र, सं. याज्ञवल्क्यस्मृति (विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा सहित). वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत संस्थान.
6. Olivelle P, editor and translator. Dharmasūtras: The Law Codes of Āpastamba, Gautama, Baudhāyana and Vasīṣṭha — Annotated Text and Translation. Delhi: Motilal Banarsidass; 2000.
7. मीमांसादर्शनम् (शाबरभाष्य सहित). पुणे: आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली.
8. Kumārila Bhaṭṭa. Ślokavārttika. Jhā G, translator. Calcutta: Asiatic Society; 1900-1908.

9. Kumārila Bhaṭṭa. *Tantravārttika*. Jhā G, translator. Calcutta: Bibliotheca Indica, Asiatic Society; 1903–1924.
10. वैशेषिकसूत्र (प्रशस्तपादभाष्य सहित). वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़.
11. महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित). गोरखपुर: गीताप्रेस.
12. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित). गोरखपुर: गीताप्रेस.
13. कालिदास. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन.
14. काणे पाण्डुरंग वामन. *धर्मशास्त्र का इतिहास*. खण्ड 1–5. काश्यप अर्जुन चौबे, हिन्दी अनुवादक. लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान.
15. Aristotle. *Nicomachean Ethics*. Ross WD, translator; Urmson JO, reviser. In: Barnes J, editor. *The Complete Works of Aristotle*. Princeton: Princeton University Press; 1984.
16. Butler J. *Fifteen Sermons Preached at the Rolls Chapel*. London; 1726.
17. Daya Krishna. *Indian Philosophy: A Counter Perspective*. Delhi: Oxford University Press; 1991.
18. Daya Krishna. *The Problematic and Conceptual Structure of Classical Indian Thought about Man, Society and Polity*. Delhi: Oxford University Press; 1996.
19. Davis DR Jr. *The Spirit of Hindu Law*. Cambridge: Cambridge University Press; 2010.
20. Halbfass W. *India and Europe: An Essay in Understanding*. Albany: State University of New York Press; 1988.
21. Hegel GWF. *Elements of the Philosophy of Right*. Wood AW, editor; Nisbet HB, translator. Cambridge: Cambridge University Press; 1991.
22. Kane PV. *History of Dharmaśāstra*. 5 vols. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute; 1930–1962.
23. Kant I. *Groundwork of the Metaphysics of Morals*. Gregor M, translator. Cambridge: Cambridge University Press; 1997.
24. Lingat R. *The Classical Law of India*. Derrett JDM, translator. Berkeley: University of California Press; 1973.
25. Matilal BK. *Ethics and Epics: The Collected Essays of Bimal Krishna Matilal*. Ganeri J, editor. New Delhi: Oxford University Press; 2002.
26. Olivelle P. *Manu's Code of Law: A Critical Edition and Translation of the Mānava-Dharmaśāstra*. New York: Oxford University Press; 2005.
27. Prasad R. *A Conceptual-Analytic Study of Classical Indian Philosophy of Morals*. PHISPC Vol. XII Pt. 1. New Delhi: Concept Publishing; 2008.
28. Wezler A. *Dharma in the Veda and the Dharmaśāstras*. *Journal of Indian Philosophy*. 2004;32:629–654.